

॥ अथ पञ्चमोऽध्यायः ॥

मरणोत्तर-जीवन-प्रकरण

पंचमस्यदिनस्यास्मिञ्ज्ञानसत्रे स्थितेष्वलम् ।
औत्सुक्यं द्रष्टुमायातं विधायाः साधकेष्वथ ॥ १ ॥
उत्सुकास्तेऽधिकं ज्ञातुं कथं सा देवसंस्कृतिः ।
अवतारयितुं शक्ता जाता स्वर्गं क्षिताविह ॥ २ ॥
देवोपमान् मनुष्याश्च कृतवत्यपि कानि तु ।
अभूवन् कारणान्येवमाधाराः के च ते मताः ॥ ३ ॥
यानाश्रित्य मनुष्याश्च तत्रासंख्याः स्वगौरवम् ।
अवधार्य कृता पारं मनोरथतरिर्गुणाम् ॥ ४ ॥
जिज्ञासूनां परं श्रेष्ठं भृगुं मुनिवरं तथा ।
कात्यायनो जगादैवं सर्वान्संज्ञानसाधकान् ॥ ५ ॥

टीका—पाँचवें दिन के ज्ञान सत्र में उपस्थित विद्या-साधकों में और भी उत्सुकता पाई गई। वे अधिक जानने के उत्सुक थे। देव संस्कृति ने किस आधार पर धरती पर स्वर्ग उतारा और मनुष्यो को देवोपम बनाया। उसके वे कारण और आधार क्या थे, जिन्हें अपनाकर असंख्यों ने अपनी गरिमा बढ़ाई और असंख्यों की नाव पार लगाई। कात्यायन ने जिज्ञासुओं में श्रेष्ठ मुनिवर भृगु सहित सभी सद्ज्ञान साधकों को संबोधित करते हुए कहा ॥ १-५ ॥

पाययन्त्यमरत्वं वै भृशं तद्देवसंस्कृतौ ।
आस्थावतः समस्तांश्च बोधयन्त्यपि ते समे ॥ ६ ॥
अमरत्वसुविश्वासा स्युः सज्जा जीवितुं तथा ।
अनन्तं ते विजानीयुर्मृत्युं नान्तः तु विश्रमम् ॥ ७ ॥
जीवितानां मृतानां च मन्यन्ते जन्मवासराः ।
परम्परेयं मृत्योश्च दिनस्यावसरेऽपि तु ॥ ८ ॥
अस्तित्वं पूर्वजानां तद् विचार्यैव विधीयते ।
श्रद्धाञ्जलिस्ततः श्राद्धकर्म चापि समैरिह ॥ ९ ॥
कस्यचिन्मृतकस्यापि नान्तमत्र तु मन्यते ।

श्रद्धीयतेऽशरीरास्ते स शरीरा इव स्वकाम् ॥ १० ॥
सत्तां विधाय विद्यन्तेऽसंख्यास्ते जीवनस्य च ।
उपक्रमं प्रकारेषु विशेषस्तरमाश्रिताः ॥ ११ ॥
जीवनस्य स्तरस्त्वेको मन्यतेऽत्राशरीरिणाम् ।
शरीरिणां च वस्त्रस्यापरिधानस्य तस्य च ॥ १२ ॥
परिधानस्य मध्यस्थास्थितिरेषा तु विद्यते ।
अमरत्वस्य चाभासो विश्वासश्चाप्यतोऽत्र तु ॥ १३ ॥
बोध्यते मृत्युमेवान्तं मते या समुदेति सा ।
निराशाऽथापि नास्तिक्यं वृणयातां न कश्चन ॥ १४ ॥

टीका—कात्यायन बोले, देवसंस्कृति में अमरत्व का पान कराया जाता है। हर आस्थावान को समझाया जाता है कि वह अमरत्व पर विश्वास करे। अनंत जीवन जीने की तैयारी करे। मृत्यु को विराम विश्राम समझे, अंत नहीं। जीवित या मृतकों के जन्मदिन मनाए जाते हैं। यही परंपरा है। मृत्यु दिन के अवसर पर भी पूर्वजों का अस्तित्व बने रहने की बात सोचकर उन्हें श्रद्धांजलि चढ़ाई जाती है। श्राद्ध-तर्पण सभी के द्वारा किया जाता है। अंत किसी मृतक का भी नहीं माना जाता। समझा जाता है कि वे अशरीरी होते हुए भी शरीरधारियों की तरह सत्ता बनाए हुए हैं और जीवन के असंख्य प्रकारों में से एक विशेष स्तर का उपक्रम बनाए हुए हैं। शरीरधारी और अशरीरी जीवन का स्तर एक-सा ही माना गया है, जैसा वस्त्र पहनने और न पहनने के बीच होता है। अमरता का आभास-विश्वास इसलिए कराया जाता है कि मृत्यु के साथ अंत मानने पर पनपने वाली निराशा और नास्तिकता किसी के सिर न चढ़े ॥ ६-१४ ॥

देवसंस्कृति की ही यह एक अद्भुत विशेषता है कि यहाँ व्यक्ति को सतत् आत्मा के अविनाशी होने, जीवन के गतिशील रहने एवं मरणोत्तर जीवन के अस्तित्व का बोध कराया जाता है। यह आस्तिकतावादी दर्शन का केंद्र बिंदु है।

४.३८ प्रज्ञोपनिषद्

यदि वर्तमान जीवन व काया रूपी चोले को ही सब कुछ मान लिया गया, तो जीवन के प्रति दृष्टि भोग प्रधान होगी। व्यक्ति दूसरों को कष्ट देकर भी स्वयं सब कुछ पाने व जितना संभव हो सुखोपभोग हेतु बटोरने का प्रयास करेगा। इसीलिए व्यक्ति को हर दिन नया जन्म, हर रात नयी मौत के रूप में नित्य अपने जीवनोद्देश्य के प्रति सोचने को बाध्य किया जाता है। मृत्यु से जीवन का अंत नहीं होता, यह विश्वास व्यक्ति को इसलिए दिलाना जरूरी है कि आशावादी दृष्टिकोण बना रहे व व्यक्ति स्वयं को वर्तमान स्थिति से भी श्रेष्ठ स्थिति में पहुँचा सके, आत्मिक प्रगति के पुरुषार्थ हेतु सक्रिय रहे।

वासांसि जीर्णानि यथा विहानवानि।
गृह्णाति नरोऽपराणि ॥
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि।
संयाति नवानि देही ॥

—गीता २।२२

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्र को त्याग करके नया वस्त्र धारण करता है, इससे वस्त्र बदलता है, मनुष्य नहीं बदलता, इसी प्रकार देहधारी आत्मा पुराने शरीर को छोड़कर दूसरा नया शरीर धारण करता है।

इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण आगे कहते हैं—“आत्मा अच्छेद्य है, अदाह्य है, अक्लेद्य और अशोष्य है तथा यह आत्मा निस्संदेह नित्य, सर्वव्यापक, अचल, स्थिर रहने वाला और सनातन है।”

गर्भोपनिषद् में बताया गया है कि गर्भावस्था में जीव के अंतःकरण में पूर्वजन्मों की स्मृतियाँ जागृत होती हैं और वह कहता है।

हजारों बार मेरा जन्म हो चुका है, विविध प्रकार के आहार मैं खा चुका हूँ, हजारों माताओं का दूध पी चुका हूँ, बार-बार पैदा हुआ हूँ और बार-बार मरा हूँ। आत्मीयों के लिए शुभ और अशुभ कर्म किए हैं, पर वे तो आज साथ हैं नहीं। साथ हैं मेरे कर्म ही, उनका ही फल मुझे मिल रहा है।

विश्वासोऽयं स्थिरस्तिष्ठेज्जीविष्यामो वयं ध्रुवम्।

अनन्तं संगताः कर्मफलशृङ्खलया वयम्॥ १५॥

पराङ्मुखैर्न भाव्यं तु प्रगतेः पथि गन्तृभिः।

नाविश्वस्तो भवेत्कर्मफलसंभावनं प्रति॥ १६॥

मान्यते द्वे यदि स्यातां स्थिरेऽन्तःकरणे ततः।

प्रतिक्रियाऽनयोः श्रेयोदायिनी सुखदा भवेत्॥ १७॥

यत्तु कर्मफलं तत्र विद्यतेऽद्यतनं न तत्।

प्राप्यतेऽद्य ततो लोकाः सन्देहं कुर्वते भृशम्॥ १८॥

विधौ दुःखफलप्राप्तौ सर्वे वै पापकर्मणाम्।

अनंतजीवनस्यास्यां मान्यतायां तथा तु न॥ १९॥

प्रत्येकस्याशुभस्याथ शुभस्यापि च कर्मणः ।

भविष्यद्विसेषेवं फलाप्तौ विश्वसन्त्यमी ॥ २० ॥

टीका—यह विश्वास बना रहे कि अनंतकाल तक जीवित रहना है और कर्मफल शृङ्खला के साथ अविच्छिन्न संबंध जुड़ा रहना है। इसलिए न तो प्रगति पथ पर चलते रहने से मुख मोड़ा जाए और न कर्मफल की संभावना के प्रति अविश्वास किया जाए। यह दो मान्यताएँ अंतःकरण में सुस्थिर रहें, तो फिर उसकी प्रतिक्रिया बहुत ही सुखद और श्रेयस्कर होती है। आज का कर्मफल आज न मिलने के कारण लोग पापकर्मों का दुःखदायी फल मिलने की विधि-व्यवस्था तक में संदेह करने लगते हैं। अनंत जीवन की मान्यता सुदृढ़ होने पर वैसा नहीं होता और हर बुरे-भले कर्म का प्रतिफल अगले दिनों मिलने की बात पर विश्वास करते हैं ॥ १५-२० ॥

कष्टदानस्य दंडश्चेत्तत्कालं नोपलभ्यते।

तत्र तेषां नृणामेव विश्वासो जायते श्लथः॥ २१॥

न विश्वसन्ति ये मर्त्या जीवने मरणोत्तरे।

स्रष्टुर्विधौ क्रियायास्तु विद्यते वै प्रतिक्रिया॥ २२॥

पापस्य निश्चितो दंडः प्राप्यतेऽनेकरूपतः।

रूपे विविधदुःखानामत्र नास्त्येव संशयः॥ २३॥

नो चेत्तत्कालमेव स्यान्मरणोत्तरजीवने।

नरकादिषु रूपेषु प्राप्तिस्तस्य तु निश्चिता॥ २४॥

कृतस्य फलमाप्तव्यं भवत्येवेति मान्यताम्।

स्वीकर्तुमनिवार्यं च मरणोत्तरजीवनम्॥ २५॥

यतन्ते भृशमेवैते त्वनुगा देवसंस्कृतेः।

आत्मप्रगतिमुद्दिश्य यावदामरणं सदा॥ २६॥

टीका—तत्काल दुःख दंड न मिलने भर से विश्वास उन्हीं का डगमगाता है, जो मरणोत्तर जीवन पर विश्वास नहीं करते। स्रष्टा की सुनिश्चित विधि-व्यवस्था में क्रिया की प्रतिक्रिया अनिवार्य है। पाप का दंड अनेकानेक दुःखों के रूप में मिलना निश्चित है। यह तत्काल न सही, मरणोत्तर जीवन में स्वर्ग-नरक के रूप में मिलता है। जो किया है, उसका फल मिलेगा ही। इस मान्यता के लिए मरण के उपरांत भी जीवन बना रहने की मान्यता आवश्यक है। देवसंस्कृति के अनुयायी मरणकाल तक आत्मिक प्रगति का प्रयास करते हैं ॥ २१-२६ ॥

कर्मफल व्यवस्था पर अनास्था ही नास्तिकता का प्रतीक है। आस्तिकवादी तत्त्वदर्शन में विश्वास रखने वाला व्यक्ति क्रिया की प्रतिक्रिया में, कर्म के प्रतिफल में भी विश्वास रखता है। इस नाते उसकी हर क्रिया स्रष्टा के विधान के अंतर्गत चलती व सुव्यवस्थित होती है। कर्मफल वस्तुतः एक ऐसी सचाई है, जिसे इच्छा या अनिच्छा से स्वीकार करना ही होगा। भूतकाल के आधार पर वर्तमान बनता है एवं वर्तमान

के अनुरूप भविष्य। किशोरावस्था में कमाई हुई विद्या एवं स्वास्थ्य संपदा, जवानी में संपन्नता एवं बलिष्ठता के रूप में सामने आती है। कर्म का परिपाक भी वस्तुतः इसी प्रकार देर-सवेर मिलता अवश्य है। जो जीवन को अनंत-अविरल प्रवाह मानते हैं, वे जानते हैं, कि जो शुभ-अशुभ कर्म किए गए या किए जा रहे हैं, उनके परिणाम कालांतर में अवश्य प्राप्त होंगे।

मरणोत्तर जीवन की मान्यता की दृढ़ता मन में बिठाए रखना इसीलिए अनिवार्य माना गया है कि इस जीवन के कर्म ही स्वर्ग-नरक जैसी परिस्थितियों के, तदनुरूप पुनः जन्म मिलने या मरणोत्तर योनि में सुख-दुःख के कारण बनते हैं।

भारतीय दर्शन में कर्मफल की सुनिश्चितता पर बहुत जोर दिया गया है। पर कई बार देखने में ऐसा भी आता है कि दुष्ट कर्म करने वाले दंड से बचे रहते हैं और पुण्यात्माओं को कष्ट सहने पड़ते हैं। इन उदाहरणों से नास्तिक भावना पनपती और मनुष्य उच्छृंखल बनता है। इस असमंजस का निवारण स्वर्ग-नरक की मान्यता एवं पुनर्जन्म के सिद्धांतों से ही होता है। अस्तु कर्मफल की अनिवार्यता का सिद्धांत मनुष्य के चारित्रिक नियंत्रण की दृष्टि से आवश्यक समझा गया है। उसकी पुष्टि मरणोत्तर जीवन में, स्वर्ग-नरक एवं पुनर्जन्म में सद्गति-दुर्गति की मान्यताएँ अपनाने से ही बात बनती है।

मृत्योः पश्चादुभौ स्वर्गनरकावत उत्तरम्।
पुनर्जन्मेति ते व्यक्ते पूरके मान्यते त्वुभे॥ २७॥
सुखं दुःखमुभे स्वर्गे विशेषेस्तः स्वतस्तु ते।
परलोके स्थितिः सूक्ष्मास्थूला लोकेऽत्र चैव सा॥ २८॥
उभयथैव फले पुण्यपापयोर्मनुजैरिह।
प्राप्येते चलतीयं च दीर्घकालं प्रतिक्रिया॥ २९॥
चतुरशीतिकलक्षोक्तयोनिष्वेव नरास्तु ते।
भ्रमंति संति ये त्वत्र कुमार्गाभिरताः सदा॥ ३०॥
त्रासांस्तदनुरूपांश्च सहंतेऽभावमप्यलम्।
विपरीततया चास्मात्पुण्यात्मानः परे सदा॥ ३१॥
लाके स्वर्गस्य मुक्तेश्च जायंते ह्यधिकारिणः।
पुनर्जन्मनि देवात्मावतारेषु महर्षिषु ॥ ३२॥
महामानवरूपेषु जायंते दिव्यतेजसः।
दर्शयंति शुभं मार्गं सर्वेषामेव ते ततः॥ ३३॥

टीका—मरण के उपरांत स्वर्ग-नरक में अपने ढंग के सुख-दुःख हैं और पुनर्जन्म में अपने ढंग के। परलोक में सूक्ष्म स्थिति है और इहलोक में स्थूल। पुण्य-पाप के प्रतिफल दोनों ही प्रकार के भुगतने पड़ते हैं। यह प्रतिक्रिया लंबी चलती है। कुमार्गागमियों को चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करना पड़ता है और तदनुरूप अभाव एवं त्रास सहने पड़ते हैं। इसके विपरीत पुण्यात्मा परलोक में स्वर्ग और मुक्ति के

अधिकारी बनते हैं। पुनर्जन्म होने पर दिव्यतेज संपन्न महामानव, ऋषि, देवात्मा, अवतार के रूप में प्रकट होते हैं और सभी को कल्याणप्रद मार्ग प्रदर्शित करते हैं॥ २७-३३॥

देवसंस्कृति की जीवन व मरण संबंधी मान्यताएँ शास्त्र सम्मत भी हैं एवं विज्ञान सम्मत भी। मरणोत्तर जीवन एवं पुनर्जन्म संबंधी अनेकों ऐसे प्रसंग हैं, जो दैनंदिन जीवन में घटते। व इस दर्शन का सत्यापन करते हैं। भले-बुरे कर्मों का प्रतिफल ही स्वर्ग और नरक के रूप में परिणत होता व सुख-दुःख की अनुभूति कराता है। चाहे वह इस लोक में हो, अथवा मरण के बाद परलोक में। मरण के बाद सूक्ष्म शरीर होने के कारण स्थूल शरीर जैसी पीड़ा-प्रताड़ना या कष्ट तो नहीं होता, किंतु मानसिक प्रसन्नता व खिन्नता की अनुभूतियाँ उससे भी अधिक मात्रा में अंतश्चेतना को प्रभावित करती हैं। स्वर्ग और नरक की भली-बुरी अनुभूतियाँ मानसिक एवं भावनात्मक होती हैं, क्योंकि सूक्ष्म शरीर रहने पर उसी स्तर की अनुभूति संभव है।

नए शरीर में आने के पश्चात अपने पूर्व अनुभवों का विवरण लिखते हुए एक जाग्रत आत्मा की अनुभूति का वर्णन वेद में इस प्रकार आता है।

पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन्युनः प्राणः पुनरात्मा।
म आगन् पुनरक्षुः पुनः श्रोत्रं म आगन्।
वैश्वानरोऽदब्धस्तनूपा अग्निर्नः पातुः दुरितादवधात्॥

-यजुर्वेद ४ / १५

अर्थात्—“शरीर में जो प्राण शक्ति (आग्नेय परमाणुओं के रूप में) काम कर रही थी, मैंने जाना नहीं कि मेरे संस्कार उसमें किस प्रकार अंकित होते रहे। मृत्यु के समय मेरी पूर्व जन्म की इच्छाएँ, सोने के समय मन आदि सब इंद्रियों के विलीन हो जाने की तरह मेरे प्राण में विलीन हो गई थीं, वह मेरे प्राणों का (इस दूसरे शरीर में) पुनर्जागरण होने पर ऐसे जाग्रत हो गए हैं, जैसे सोने के बाद जागने पर। मनुष्य सोने के पहले के संकल्प-विकल्प के आधार पर काम प्रारंभ कर देता है। अब मैं पुनः आँख, कान आदि इंद्रियों को प्राप्त कर जाग्रत हुआ हूँ और अपने पूर्वकृत कर्मों का फल भुगतने को बाध्य हुआ हूँ।”

विचार और कर्म के संयोग से जो स्वभाव-अभ्यास बनता है, वस्तुतः उसी को संस्कार कहते हैं। यह संस्कार देर से जगते हैं और देर से कटते हैं। मरने के उपरांत इंद्रिय समुच्चय और मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, अंतःकरण तो स्थूल शरीर के साथ छूट जाते हैं, किंतु सूक्ष्म शरीर संस्कारों से जकड़ा रहता है। वे ही स्वर्ग-नरक की अनुभूति करते हैं और नए जन्म का आधार बनाते हैं। कुकर्मी गिरते और चौरासी लाख हेय योनियों में भ्रमण करते हैं। चेतना को नए

४.४० प्रज्ञोपनिषद्

सिरे से विकसित करने के लिए उन्हें वृक्ष जैसी जड़ समझी जाने वाली योनियों में जाना पड़ता है। नए सिरे से प्रगति क्रम आरंभ करने और उपहार-अनुदानों से वंचित करने वाली यह दंड व्यवस्था स्रष्टा ने कर्मफल की सुनिश्चितता को ध्यान में रखकर ही बनाई है। हर जन्म में कर्मों का तुरंत फल नहीं मिल पाता, वे अवसर की प्रतीक्षा में पड़े रहते हैं। परलोक में स्वर्ग-नरक तथा पुनर्जन्म की परिस्थितियों में इन कृत्यों की भरपाई होती रहती है। जिनके कुसंस्कार अधिक भारी और भयानक नहीं हैं, वे प्रायः फिर मनुष्य जन्म प्राप्त कर लेते हैं। उसमें भी कर्मफल भोगने का पर्याप्त अवसर रहता है। कितने ही मनुष्य जन्मजात भली-बुरी उपलब्धियाँ साथ लाते हैं। इसे संचित कृत्यों का प्रतिफल ही कहा जा सकता है।

मनुष्य के उपरांत देव योनियाँ हैं। उनमें न अभाव है, न असंतोष। कामना, वासना में ग्रसित व्यक्ति जिस प्रकार जलते-जलाते रहते हैं, वे उद्विग्नताएँ भी उन योनियों में नहीं हैं। आत्मगौरव को समझने और उपलब्ध संपदाओं का सदुपयोग करने की ऋतुभरा प्रज्ञा इन्हीं दिव्य योनियों में पहुँचने वालों को मिलती है। आदर्शवादी, महामानव, आत्मसंयमी ब्राह्मण परोपकारी, संत, मनस्वी, सुधारक, समर्पित शहीद, अनुकरणीय आदर्श उपस्थित करने वाले अग्रदूत अवांछनीयता के प्रवाह को उलट देने में समर्थ अवतार अपने-अपने स्तर के देवात्मा माने गए हैं। वे काया से तो मनुष्य जैसे ही होते हैं, खाते-सोते भी उसी तरह हैं, किंतु उनकी दूरदर्शिता, उदारता एवं साहसिक सामान्य मनुष्यों की तुलना में उतनी ही ऊँची होती है, जितनी कि धरातल और स्वर्गलोक की।

देवता स्वावलंबी होते हैं। वे सामान्य लोगों से प्रभावित नहीं होते, वरन उनका मार्गदर्शन करते हैं। एकाकी चलते हैं, उन्हें उत्कृष्टता, आत्मप्रेरणा और ईश्वर की अनुकंपा के अतिरिक्त और किसी का सहयोग पाने की न तो इच्छा होती है, न आवश्यकता प्रतीत होती है। वे अंतरात्मा का अनुकरण करते हुए प्रचंड साहस के बल पर एकाकी चलते और पूर्ण चंद्र का उदाहरण बनते हैं। ऐसे लोगों का उदार दृष्टिकोण उन्हें हर घड़ी स्वर्गलोक की अनुभूतियाँ कराता है। उनके आदर्श चरित्र का चुंबकत्व चारों ओर एक देव मंडली समेटे रहता है और शालीनता का वातावरण उनके साथ-साथ चलता है। संकीर्ण स्वार्थपरता के दल-दल से निकलकर वसुधैव कुटुंबकम् की महानता अपनाने वाले भव-बंधनों से स्वयमेव विमुक्त हो जाते हैं।

आस्तिकत्वे चेश्वरस्तु न्यायकर्ता तथैव च।

समदृष्टियुतः सर्वव्यापकश्च मतः समैः ॥ ३४ ॥

क्रियाकृत्यानि प्रेमास्य रोषश्चाश्रयतस्ततः।

अस्याः पुष्टिर्मान्यताया विश्वासेन भवेदिह ॥ ३५ ॥

अनंतजीवनस्यैव सोऽन्यथा मानवो भवेत्।

उदंडो नास्तिकः कर्मफलाप्राप्तौ निरंतरम् ॥ ३६ ॥

सर्वनाशश्च स्वस्यैव दृष्टिकोणेन संततम्।

जायतेऽनेन चानीतिजन्यदुःखानि तान्यथ ॥ ३७ ॥

दारिद्र्यं च समस्तेऽपि संसारे यांति विस्तरम्।

अमराः संति देवास्ते देवसंस्कृतिगा अपि ॥ ३८ ॥

नरा आत्माऽमरत्वं च निश्चितं मन्यते सदा।

मरणस्य भयं दुःखं मन्यन्ते न ततश्च ते ॥ ३९ ॥

टीका—आस्तिकता में ईश्वर को न्यायकारी, समदर्शी, सर्वव्यापी माना जाता है। उसका दुलार और रोष क्रिया-कृत्यों पर ही निर्भर रहता है। इस मान्यता की पुष्टि, अनंतजीवन के विश्वास से ही होती है। अन्यथा कर्मफल में देर लगने पर मनुष्य निरंतर कृपण, उदंड एवं नास्तिक होने लगता है, इस दृष्टिकोण के अपनाने से अपना सर्वनाश होता है और समस्त संसार में अनीतिजन्य दुःख-दारिद्र्य का विस्तार होता है। देवता अमर होते हैं। देवसंस्कृति पर विश्वास करने वाले, मनुष्य की आत्मिक अमरता को सुनिश्चित मानते हैं। फलतः मरण का भय और दुःख भी नहीं मानते ॥ ३४-३९ ॥

वस्तुतः इस विश्व का निर्माणकर्ता बहुत ही दूरदर्शी और व्यवहार कुशल है। उसने इतना बड़ा सृजन किया है। जड़ में हलचल और चेतन में चिंतन की इतनी अद्भुत क्षमता का समावेश किया है कि किसी सूक्ष्मदर्शी को आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। निर्माण व्यवस्था और परिवर्तन की जो रीति-नीति विनिर्मित की है, उसके तारतम्य को देखते हुए मनीषियों ने कला की कल्पना की और विज्ञान की धारणा को मूर्त रूप दिया। ऐसे सर्वसंपन्न स्रष्टा से कर्म व्यवस्था के संबंध में चूक होना यह सोचना अपनी ही बाल बुद्धि का खोखलापन दर्शाना है। जिसकी दुनिया में दिन और रात की, ग्रह-नक्षत्रों के उदय, अस्त की, पदार्थ की प्रकृति और प्राणियों की परंपरा की विधि-व्यवस्था में कहीं राई-रत्ती अंतर नहीं पड़ता वह कर्मफल को संदेहास्पद बनाकर अराजकता का और आत्मघात का विग्रह खड़ा नहीं कर सकता।

आत्मिकी के सिद्धांत व्यक्तिगत जीवन को अधिकाधिक सुसंस्कृत एवं पवित्र बनाने की भूमिका संपादित करते हैं। यही सिद्धांत है, जिनके माध्यम से सामाजिक सुव्यवस्था की आधारशिला रखी है। (१) शरीर की नश्वरता, (२) आत्मा की अमरता, (३) कर्मफल का सुनिश्चित होना, तथा (४) परलोक पुनर्जन्म की संभावना यह चार सिद्धांत ऐसे हैं, जो किसी न किसी रूप में प्रायः अध्यात्म की सभी शाखाओं में प्रतिपादित किए गए हैं।

आत्मा की पुकार है, मृत्योर्माऽमृतंगमय हे परमेश्वर, मुझे मृत्यु से अमरता की ओर ले चल। मरण कितना अवांछनीय

और जीवन कितना अभीष्ट है, इसका आभास इस पुकार में मिलता है। अंतरात्मा की प्रबल कामना है, जिजीविषा। वह जीना चाहता है। शरीर नष्ट हो जाए, तो क्या? आत्म सतत जीवित बने रहने की आकांक्षा रखती है। जब यह भाव है, तो मृत्यु से डर किस बात का एवं फिर इस जन्म में दुष्कर्म बन भी कैसे पड़े?

जिसने जन्म लिया है, उसका मरण सुनिश्चित है। सृष्टि क्रम ही जन्म-मरण की धुरी पर घूम रहा है। जो जन्मा है, सो मरेगा ही। जीवनेच्छा कितनी प्रबल क्यों न हो, मरण से बचा नहीं जा सकता। मृत्यु की चलती चक्की में अन्न के दानों की तरह हमें आज नहीं, तो कल पिसकर ही रहना है। इस तथ्य को न तो झुठलाया जा सकता है और न उसका सामना करने से बचा जा सकता है। मरण तो एक ध्रुव सत्य ही मानकर चलना चाहिए। अनिच्छा, भय, भीरुता अथवा कृपणता, कातरता कुछ भी मन में क्यों न हो? प्रकृति का सुनिश्चित क्रम रुकेगा नहीं, हमारा परम प्रिय लगने वाला आज का सुनिश्चित अस्तित्व कल महान शून्य में विलीन होकर रहेगा। आज की यथार्थता कल विस्तृत के गर्त में गिरकर सदा के लिए अविज्ञता के अंतरिक्ष में बिखर जाएगी।

मरण से भयभीत होकर आतुर लोग ऐसा सोचते हैं कि इन्हीं क्षणों जितना अधिक आनंद उठा लिया जाए, उतना ही उत्तम है। वे इंद्रियलिप्सा एवं मनोविनोद के लिए अधिकाधिक साधन जुटाते हैं और उसके लिए जो भी उचित-अनुचित करना पड़े उसे करने में भी नहीं चूकते। यह उपभोग की आतुरता कई बार तो इतनी बढ़ी-चढ़ी और इतनी अदूरदर्शी होती है, कि उपभोग का आरंभ होते-होते विपत्ति का वज्र सिर पर टूट पड़ता है। अपराधियों और कुकर्मियों की दुर्गति आए दिन देखी जाती है। कइयों को तुरंत ही प्रतिरोध का, प्रतिशोध का सामना नहीं करना पड़ता। सामयिक सफलता भी मिल जाती है, पर ईश्वरीय कानून तो उलटे नहीं जा सकते।

पितृणां संततीनां च मध्ये संबंध एष तु ।
विद्यते स्वजनैरत्र संपर्कोऽपि भवत्यलम् ॥ ४० ॥
संबंधिनो दिवं यातान्प्रति द्वारमपावृतम् ।
विद्यते स्नेहसद्भावसहयोगं प्रदर्शितुम् ॥ ४१ ॥
कृतानामुपकाराणां प्रतिकर्तुमवाप्यते ।
समयो मान्यतामेतामाश्रित्यैव नैरिह ॥ ४२ ॥
दिवंगतान् समुद्दिश्य श्रद्धा सद्भावना च या ।
व्यज्यते तच्छुभं कर्म श्राद्धतर्पणमुच्यते ॥ ४३ ॥
मन्यते चैनमाश्रित्य त्वाधारं स्वर्गिणामपि ।
स्वजनानां साहाय्यं श्राद्धिकं कर्तुमिष्यते ॥ ४४ ॥
मान्यतेयं कृतज्ञत्वपोषिका वर्तते दृढम् ।

प्रतिकर्तुं ददात्येषा सर्वेभ्योऽवसरं सदा ॥ ४५ ॥

आधारमिममाश्रित्य सद्भावो जाग्रतस्तु यः ।

लोकमंगलकार्येषु चोपयुक्तुं स शक्यते ॥ ४६ ॥

श्राद्धे तत्राऽन्नपिण्डं तु तर्पणे चामृतं तथा ।

दीयतेऽन्नं साधनानां श्रमदानस्य चामृतम् ॥ ४७ ॥

प्रतीकत्वमिहायातं श्राद्धे यद्दीयते च तत् ।

तस्यापि माध्यमं नूनं तदेवात्र तु विद्यते ॥ ४८ ॥

दानकृत्येभ्य एवात्र निश्चितं यत्तु पूर्वतः ।

यज्ञार्थाय तथा तस्मै विपदवारणहेतवे ॥ ४९ ॥

टीका—पितरों और संतति के बीच संबंध बना रहता है। स्वजनों के प्रति संपर्क भी रहता है। अस्तु उन दिवंगत संबंधियों के प्रति स्नेह, सद्भाव, सहयोग प्रदर्शित करने का द्वार खुला रहता है। उनके किए हुए उपकारों का बदला चुकाने का भी इस मान्यता के आधार पर अवसर मिलता रहता है। दिवंगतो के प्रति श्रद्धा, सद्भावना व्यक्त करने का उपचार श्राद्ध-तर्पण है। माना गया है कि इस आधार पर स्वर्गीय स्वजनों की श्रद्धा युक्त सहायता की जा सकती है। यह मान्यता-कृतज्ञता की दृढ़ पोषक है। प्रत्युत्तर के लिए अवसर प्रदान करती है, साथ ही इस आधार पर जाग्रत हुई सद्भावना का उपयोग लोकमंगल के सत्प्रयोजनों में बन पड़ता है। श्राद्ध में जो दिया गया है, उसका माध्यम भी वही है, जो प्रत्येक दानकृत्यों के लिए निर्धारित है यज्ञार्थाय और विपदवारणाय ॥ ४०-४९ ॥

भारतीय संस्कृति ने यह तथ्य घोषित किया है कि मृत्यु के साथ जीवन समाप्त नहीं होता। अनंत जीवन शृंखला की एक कड़ी मृत्यु भी है। इसीलिए संस्कारों के क्रम में जीव की उस स्थिति को भी बाँधा गया है, जब वह एक जन्म पूरा करके अगले जीवन की ओर उन्मुख होता है। कामना की जाती है कि संबंधित जीवात्मा का अगला जीवन पिछले की अपेक्षा अधिक सुसंस्कारवान बने। इस निमित्त जो कर्मकांड किए जाते हैं, उनका लाभ जीवात्मा को क्रियाकर्म करने वालों की श्रद्धा के माध्यम से ही मिलते हैं। इसीलिए मरणोत्तर संस्कार को श्राद्धकर्म भी कहा जाता है।

इस दृश्य संसार में स्थूल शरीर वालों को जिस इंद्रिय भोग, वासना, तृष्णा एवं अहंकार की पूर्ति में सुख मिलता है, उसी प्रकार पितरों का सूक्ष्म शरीर शुभ कर्मों से उत्पन्न सुगंध का रसास्वादन करते हुए तृप्ति अनुभव करता है। उसकी प्रसन्नता तथा आकांक्षा का केंद्र बिंदु श्रद्धा है। श्रद्धा भरे वातावरण के सान्निध्य में पितर अपनी अशांति खोकर आनंद का अनुभव करते हैं। श्रद्धा ही उनकी भूख है, इसी से उन्हें तृप्ति होती है। इसलिए पितरों की प्रसन्नता के लिए श्राद्ध एवं तर्पण किए जाते हैं। पितर वे हैं, जो पिछला शरीर त्याग चुके

४.४२ प्रज्ञोपनिषद्

हैं, किंतु अगला शरीर अभी प्राप्त नहीं कर सके इस मध्यवर्ती स्थिति में रहते हुए वे अपना स्तर मनुष्यों जैसा ही अनुभव करते हैं।

मुक्त आत्माओं और पितरों के प्रति मनुष्यों को वैसा ही श्रद्धाभाव दृढ़ रखना चाहिए, जैसा देवों-प्रजापतियों तथा परमात्म सत्ता के प्रति। मुक्तों, देवों, प्रजापतियों एवं ब्रह्म को तो मनुष्यों की किसी सहायता की आवश्यकता नहीं होती। किंतु पितरों को ऐसी आवश्यकता होती है। उन्हें ऐसी सहायता दी जा सके, इसीलिए मनीषी पूर्वजों ने पितरपूजन, श्राद्ध कर्म की परंपराएँ प्रचलित की थी। उनकी सही विधि और उनमें सन्निहित प्रेरणा को जानकर पितरों को सच्ची भाव-श्रद्धांजलि अर्पित करने पर वे प्रसन्न पितर बदले में प्रकाश, प्रेरणा शक्ति और सहयोग देते हैं। पितरों को स्थूल सहायता की नहीं, सूक्ष्म भावनात्मक सहायता की ही आवश्यकता होती है। क्योंकि वे सूक्ष्म शरीर में ही अवस्थित होते हैं। इस दृष्टि से मृत्यु के पश्चात् पितृपक्ष में, मृत्यु की तिथि के दिन अथवा पर्व-समारोहों पर श्राद्ध कर्म करने का विधान देवसंस्कृति में है।

श्राद्ध किस तत्व पर टिका है? शरीर के नष्ट हो जाने पर भी जीव का अस्तित्व नहीं मिटता। वह सूक्ष्म रूप से हमारे चारों ओर वातावरण में घूमते रहते हैं। जीव का फिर भी अपने परिवार के प्रति कुछ-न-कुछ महत्व रह जाता है। सूक्ष्म आत्माएँ आसानी से सब लोकों में आकर हमारे चारों ओर चक्कर लगाया करती हैं। हमारे विचार और भावनाएँ इस सूक्ष्म वातावरण में फैलते हैं। इन्हें हम जिस तेजी से बाहर के वातावरण में फेंकते हैं, ये उसी गति से दूर-दूर फैल जाते हैं। अतः श्राद्ध में किए गए पूर्वजों के प्रति हमारे आत्मीयता, सद्भावना, कृतज्ञता के भाव उन आत्माओं के पास पहुँच जाते हैं। उसे उनसे सुख, शांति प्रसन्नता और स्वस्थता मिलती है।

श्राद्ध में हविष्यान पिंडों के द्वारा श्रद्धाभिव्यक्ति की जाती है। ये पिंड साधन-दान के प्रतीक होते हैं। स्वर्गस्थ आत्माओं की तृप्ति के लिए तर्पण किया जाता है। जल की एक अंजलि भरकर कृतज्ञता के भाव से भरकर हम स्वर्गीय पितृदेवों के चरणों में उसे अर्पित कर देते हैं। इस प्रकार श्रद्धा, प्रेम, कृतज्ञता, अभिनंदन सभी का मिश्रित रूप श्राद्ध है।

सदुद्देश्यसुपूर्त्यर्थं दानमेतत्तु दीयते ।
सार्थक्यं सत्प्रवृत्तेस्तु वर्द्धनं तस्य चामृतम् ॥ ५० ॥
याति संपन्नतां श्राद्धं नैव सामर्थ्यसंयुतान् ।
भोजयित्वा नरान् वंशवेष्यारेव निश्चितान् ॥ ५१ ॥
दत्त्वा तेभ्यो धनं वाऽपि संति ते त्वधिकारिणः ।

वस्तुतः सच्चरित्रा ये विशालहृदया अपि ॥ ५२ ॥
विपद्ग्रस्ताश्च ये संति तथाशक्ताः स्वतश्च ये ।
प्रतिग्रहस्य ग्रहीतुं नरा तेऽधिकृता उत ॥ ५३ ॥
समर्पिताः समाजस्य सेवार्थं ये सदैव च ।
संपदाऽऽजीविकाचापि येषां नैवात्मनः क्वचित् ॥ ५३ ॥
नरा एतादृशा एवं उच्यन्ते साधुब्राह्मणाः ।
प्राप्तुं दानमिमे मर्त्या अधिकारिण आमताः ॥ ५५ ॥
वस्तुतो दानमेतत्तु सत्प्रयोजनहेतवे ।
प्रामाणिकाय तन्त्राय दातुमेवात्र युज्यते ॥ ५६ ॥
अन्यथा हानिदं श्राद्धं वैपरीत्येन जायते ।
तन्निमित्तं कृतं यत्तु शुभकर्मतदेव चेत् ॥ ५७ ॥
कुपात्रकरयातं स्यादवाञ्छितविधौ गतम् ।
पितृणां दुःखदं तेषां भवेद् येषां कृते कृतम् ॥ ५८ ॥

टीका—दान सदुद्देश्यों की पूर्ति के लिए दिया जाता है। उसकी सार्थकता सत्प्रवृत्ति-संवर्द्धन में मानी गई है। अस्तु, श्राद्धप्रक्रिया किसी वंश या वेष के समर्थ मनुष्यों को व्यर्थ ही भोजन कराने, पैसा देने से संपन्न नहीं हो सकती। वे ही व्यक्ति दान के अधिकारी हैं, जो सच्चरित्र, विशाल हृदय हों, विपत्ति में फँसे हों और अपने पैरों खड़े हो सकने में असमर्थ हों। अथवा उनको निर्वाह लेने का अधिकार है, जो सर्वतोभावेन समाज सेवा के लिए समर्पित है। जिनके पास अपनी कोई संपदा या आजीविका नहीं है, ऐसे ही लोग साधु-ब्राह्मण कहलाते हैं। मात्र ऐसों के ही व्यक्तिगत रूप से दान लेने का अधिकार है। वस्तुतः दान तो सत्प्रयोजनों के लिए प्रामाणिक तंत्र के हाथों ही सौंपा जाना चाहिए। अन्यथा श्राद्ध पितरों के लिए उलटा हानिकारक होता है। उनके निमित्त किया हुआ शुभ कर्म यदि कुपात्र हाथों या अवांछनीय कृत्यों में नियोजित हो, तो उन पितरों को दुःख होना स्वाभाविक है, जिनके लिए वह किया गया ॥ ५०-५८ ॥

श्राद्ध व्यवस्था में पितर-मुक्ति हेतु दान का संकल्प लिया जाता है। इसको सही परिप्रेक्ष्य में समझा जाना चाहिए। जिस कार्य से असमर्थों, अशक्तों को सहायता मिले, समाज में सत्प्रवृत्तियाँ का विस्तार हो, वह सच्चे अर्थों में दान है। वंश-ब्राह्मण का हो, वंश साधु का हो, इन शब्दों को उनके भावार्थ में समझा जाना चाहिए। हट्टे-कट्टे मात्र भिक्षा पर जीवित रहने वाले परावलंबी भगवा वेशधारियों को भोजन कराकर दान देकर पितर मुक्ति का लक्ष्य तो पूरा होता नहीं, उल्टे दो अपयश हाथ लगते हैं। इस लोक में परावलंबन को बढ़ावा देकर पाप अपने ऊपर ओढ़ना, दूसरे परलोक में बैठी पितर आत्माओं का शाप अपने ऊपर लगाना। इस दुर्गति से बचने का श्रेष्ठ तरीका यही है कि लोकमंगल के कार्य में लगे सुपात्र व्यक्ति यों या संस्थाओं को श्रेष्ठता अभिवर्द्धन हेतु

साधन दान दिया जाए एवं संभव हो, तो समय के रूप में श्रम-सीकर बहाने का संकल्प लिया जाए। दूसरे स्थान पर वे व्यक्ति आते हैं, जो आपदाओं में फँसने या अशक्ति के कारण स्वयं अपना निर्वाह करने में असमर्थ हैं। इन्हें स्वावलंबी बनाने के प्रयास करने से भी पितर मुक्ति होती है।

पूर्वजोपार्जितं वित्तं समर्था संततिः स्वतः।

प्रतिदद्यादलं तेषां वर्द्धितुं पुण्यसंपदाम्॥५९॥

इयमेव च शालीना विद्यते च परंपरा।

शुभा प्रत्युपकारस्य येनात्मा संप्रसीदति॥६०॥

पूर्वजैरनुदानं यद्वत्तं यश्च कृतः स्वयम्।

सहयोगश्च देयं तत्पूर्वजैर्भ्यो द्वयं त्विह॥६१॥

वार्धक्ये च सुपात्रं या संततिः सा तु सेवया।

अभिभावकवृद्धानां सहयोगेन चेच्छति॥६२॥

आनृण्यमात्मनोऽतश्च स्वर्गस्थानां कृते नरः।

दानपुण्यादिकार्यैश्च प्रति यच्छति संततम्॥६३॥

आनृण्योऽवसरोऽनेन लभ्यते त्वन्यथा तु तत्।

भविष्यजन्मसु स्याच्च भारवाहितयाऽर्पितुम्॥६४॥

अनुदानं संततिश्च प्रदत्तमभिभावकैः।

गृहीयादसमर्थस्तु न सामर्थ्यं समागते॥६५॥

टीका—पूर्वजों का उपार्जित धन, समर्थ संतान उन्हीं की पुण्य-संपदा बढ़ाने के लिए लौटा दे। प्रत्युपकार की यही शालीन परंपरा है। इसी से आत्मा प्रसन्नता व तृप्ति प्राप्त करती है। जीवित पूर्वजों को उनके किए हुए सहयोग एवं दिए हुए अनुदान को वापिस किया जाना चाहिए। वृद्धावस्था में सुपात्र संतानों अपने अभिभावकों की सेवा-सहायता करके उन्नत होने का प्रयास करती हैं। स्वर्गवास होने पर उसे उनके निमित्त पुण्यकार्य करके वापिस लौटाती हैं। उससे भी उन्नत होने का अवसर मिलता है। न लौटाने पर वह ऋण अगले जन्मों में भार ढो-ढोकर चुकाना होता है। संतान को अभिभावकों के अनुदान तभी तक लेने चाहिए, जब तक समर्थ न हो॥ ५९-६५॥

दिवंगत आत्मा ने उत्तराधिकार में जो छोड़ा है, उसमें से उतना ही स्वीकार करना चाहिए, जो पीछे वाले बिना कमाऊ बालकों या स्त्रियों के निर्वाह के लिए अनिवार्य हो। कमाऊ संतान को उसे स्वीकार नहीं करना चाहिए। दिवंगत आत्मा के अन्य एहसान ही इतने हैं कि उन्हें अनेक जन्मों तक चुकाना पड़ेगा। फिर यह नया ऋण भारी ब्याज समेत चुकाने के लिए क्यों और भी सिर पर लादा जाए। असमर्थ स्थिति में अभिभावकों की सेवा स्वीकार करना उचित था, पर जब व्यस्क और कमाऊ हो गए, तो फिर उसे लेकर हराम खाऊ मुफ्तखोरों में अपनी गणना क्यों कराई जाए।

पूर्वजों के छोड़े हुए धन में कुछ अपनी ओर से श्रद्धांजलि

मिलाकर उनकी आत्मा के कल्याण के लिए दान कर देना चाहिए। यही सच्चा श्राद्ध है। पानी का तर्पण और आटे की गोली का पिंडदान पर्याप्त नहीं, वह किया कृत्य तो मात्र प्रतीक है। श्रद्धा की वास्तविक परीक्षा उस श्राद्ध में है, जो पूर्वजों की कमाई को उन्हीं की सद्गति के लिए सत्कर्मों के लिए दान रूप में समाज को वापिस कर दिया जाए। अपनी कमाई का जो सदुपयोग मोह या लोभवश स्वर्गीय आत्मा नहीं कर सकी थी, उस कमी की पूर्ति उसके उत्तराधिकारियों को कर देनी चाहिए।

जीवित स्थिति में भी युवा संतानों का यह दायित्व है कि उनके ऊपर उनको जन्म देकर बड़ा करने, स्वावलंबी समर्थ बनाने वाले अभिभावक वृद्ध माता-पिता की परिपूर्ण सेवा की जाए। सेवा इस उद्देश्य से न की जाए कि उनकी छोड़ी संपत्ति हमें उत्तराधिकार में मिलेगी, अपितु पुत्र धर्म के नाते की जाए। आयुष्य की उत्तरावस्था में दिया गया अभिभावकों को कष्ट उनकी आह के रूप में जब सिर पर लदता है तो इस जन्म में व परलोक में त्रास-ही-त्रास देता है।

इयमेव तु श्राद्धस्य विद्यते तु परंपरा।

व्यक्तानि साधनान्यत्र प्रतिदीयंत एव तु॥६६॥

यत्प्राप्तं दीयते तच्च श्रद्धासद्भावकारणात्।

अतोऽतिरिक्तमप्यत्र संभवं यद् भवेदपि॥६७॥

लोकमंगलकृत्यं तत्कर्तव्यमिच्छमेव च।

श्रमदानं साधनानां दानैः सहनियुज्यताम्॥६८॥

तर्पणं श्रमदानं च स्वेदबिन्दुप्रतीकताम्।

धत्तः शिक्षाभिवृद्धौ सुव्यवस्थायां तथैव च॥६९॥

वृक्षारोपणकार्यं च स्वच्छतायामपीदृशम्।

विविधेषु हि कृत्येषु श्रमो योक्तव्य एव च॥७०॥

तर्पणं चेदमेवास्ति लोकचित्तपरिष्कृतौ।

धनार्पणं भवेच्छ्राद्धमिदमेव च संततेः॥७१॥

पितृनुदिद्ध्य कर्तव्यं यदस्ति तत्स्मृतिः शुभा।

श्राद्धतर्पणकार्येण कार्यते लोक उच्यते॥७२॥

टीका—यही श्राद्ध परंपरा है। इसमें छोड़े हुए साधन लौटाए जाते हैं। जो लिया था, वह वापस किया जाता है। इसके अतिरिक्त भी अपनी श्रद्धा-सद्भावना की पहल करने के निमित्त जो बन पड़े, लोकमंगल के शुभ कृत्य करते रहना चाहिए। इस हेतु न केवल साधनों का दान हो, वरन श्रमदान भी नियोजित रखा जाए। तर्पण-श्रमदान-स्वेदबिंदुओं का प्रतीक है। वृक्षारोपण, शिक्षा-संवर्द्धन, स्वच्छता, सुव्यवस्था जैसे कृत्यों में श्रम किया जाए यह तर्पण हुआ। लोकमानस के परिष्कार में धन लगाया जाए यह श्राद्ध कहलाया। संतान का पितरों के प्रति जो कर्तव्य है, उसका स्मरण श्राद्धतर्पण की प्रतीक, परिचर्या द्वारा कराया जाता है॥ ६६-७२॥

४.४४ प्रज्ञोपनिषद्

पितरों के प्रति सच्चा श्राद्ध वही है, जिसमें उनके छोड़े हुए उत्तरदायित्वों को पूरा किया जाए। श्राद्ध का अर्थ है, श्रद्धा युक्त आचरण धन को जब सदुद्देश्यों के निमित्त नियोजित किया जाता है, तो वह श्राद्ध कहलाता है। जो भी कुछ व्यक्ति समाज से लेता है, उसके बदले उपार्जन कर संपत्ति जुटाता है, उसे समाज हित के कार्यों में जीवन काल में ही लगा दे, यह मर्यादा है। यदि योगवश वह ऐसा न कर पाए, तो उसके उत्तराधिकारी, कुटुंबी, मरणोपरांत उस कार्य को श्रद्धा के साथ पूरा करें, यह देवसंस्कृति की व्यवस्था है। श्राद्ध द्वारा मृतात्मा की शांति, सद्गति मिलने की मान्यता के पीछे यही तथ्य है। तर्पण मात्र जल को अंजुलि में भरकर छोड़ना भर नहीं है। शरीर का पसीना भी लोकहित हेतु बहे। शुभ कार्य पारिश्रमिक देकर नौकरों से नहीं कराए जा सकते। समाज में सत्प्रवृत्ति फैलाने वाले मंगलकारी कृत्यों हेतु स्वयं के श्रम, सीकर बहने चाहिए तो ही यह कर्मकांड पूरा होता है, नहीं तो बस निमित्त मात्र चिह्न पूजा बनकर रह जाता है।

श्रद्धाभिव्यक्तितृप्तास्ते पितरोऽपि परोक्षतः।

उच्यते कुर्वते नृणां कुलस्थानां सहायताम्॥ ७३ ॥

निराशा ये समुद्विग्नाः खिन्ना रुष्टास्तथैव च।

असंतुष्टाः कुलस्यैवाऽहितं तेन भवत्यलम्॥ ७४ ॥

दृष्ट्याऽनिवार्यैषा श्राद्धस्यात्रोपयोगिता।

सत्कर्मनिरता या च संततिस्तस्य कर्मणाम्॥ ७५ ॥

एकोऽंशः प्राप्यते तस्य पूर्वजैरपि निश्चितम्।

संतुष्टाः सुखिनस्ते च निवसन्ति ददत्यपि॥ ७६ ॥

अंशदानं पिंडदानं प्राप्य चाशिषमुत्तमम्।

कुर्मणा च पापेन जायते पितृ - दुर्गतिः ॥ ७७ ॥

पुण्यानामिव पापानां भागिनस्ते भवन्त्यपि।

दायित्वं सृजनस्यात्र प्रत्येकं भजते नरः॥ ७८ ॥

टीका—कहा जाता है कि श्रद्धाभिव्यक्ति से तृप्त हुए पितर अपने वंशधरों की परोक्ष सहायताएँ करते रहते हैं और जो निराश-उद्विग्न हैं, वे खिन्न, रुष्ट एवं असंतुष्ट रहते हैं। उनका वह असंतोष परिवार का अहित करता है। इस दृष्टि से भी श्राद्ध की उपयोगिता-आवश्यकता मानी गई है। सत्कर्मरत संतति के शुभकर्मों का एक भाग पूर्वजों को मिलता है। इसीलिए वे संतुष्ट-सुखी रहते हैं और पिंडदान-अंशदान पाकर मनभावन आशीर्वाद देते हैं। इसी प्रकार कुकर्मों संतान के पाप कर्मों से उनके उत्पादनकर्ता पूर्वजों की दुर्गति भी होती है। वे पुण्य की तरह पाप के भी भागीदार बनते हैं। सृजन कृत्यों का उत्तरदायित्व हर किसी को ओढ़ना पड़ता है ॥ ७३-७८ ॥

यहाँ ऋषिवर कहते हैं कि पितरों को सच्ची श्रद्धा दी जाएगी, उन्हें तृप्त रखा जाएगा, तो वे निश्चय ही शक्ति, प्रकाश, मार्गदर्शन, प्रेरणा, सहयोग एवं भावात्मक अनुदान

देगे।

मरण समय में विशुद्ध मनःस्थिति लेकर मरने वाले अक्सर भूत-प्रेत की योनि भुगतते हैं। स्वार्थी अपनी अतृप्त कामनाओं की पूर्ति के लिए उस प्रकार के घटनाक्रमों के इर्द-गिर्द मँडराते रहते हैं और शरीर न होने पर भी वे इच्छित स्वभाव के अनुरूप जहाँ वातावरण दीखता है, वहाँ पहुँचते हैं। जिनसे अपनी मित्रता या शत्रुता रही है, उन्हें लाभ-हानि पहुँचाने का भी जो कुछ प्रयास बन पड़ता है, उसे करते रहते हैं। इन्हें प्रेत स्तर का कहा जाता है। परमार्थ परायण आत्माएँ कष्ट पीड़ितों की सहायता करने जा पहुँचती हैं और अदृश्य सहायकों की भूमिका निभाती हैं। किन्हीं को प्रेरणा देकर उनके शरीरों से वह काम करा लेती हैं, जिसे करने के लिए उनकी परमार्थ भावना उमड़ती है। इन अशरीरी द्रव्य योनियों के चार वर्ग हैं। (१) पितर (२) मुक्त (३) देव और (४) प्रजापति। वे सद्भाव संपन्न दिव्य आत्माएँ अपनी सीमा-मर्यादा के अनुरूप अपनी सामर्थ्य का उपयुक्त अवसर पर प्रयोग भी करते हैं और सृष्टि संतुलन बनाए रखने में भूमिका का निर्वाह भी करते हैं। ये आत्माएँ शांति और सुरक्षा के सदुद्देश्य से लेकर जीवन भर संबंधित व्यक्तियों की सहायता देती, परिस्थितियों को सँभालती तथा प्रिय वस्तुओं की सुरक्षा के लिए अस्तित्व का परिचय देती रहती हैं। पितृवत्, स्नेह, दुलार और सहयोग देना भर उनका कार्य होता है।

पितर ऐसी उच्च आत्माएँ होती हैं, जो मरण और जन्म के बीच की अवधि को प्रेत बनकर गुजारती हैं और अपने उच्च स्वभाव के संस्कार के कारण दूसरों की यथासंभव सहायता करती रहती हैं। इनमें मनुष्यों की अपेक्षा शक्ति अधिक होती है। सूक्ष्म जगत से संबंध होने के कारण उनकी जानकारीयाँ भी अधिक होती हैं। उनका जिनसे संबंध हो जाता है, उन्हें कई प्रकार की सहायताएँ पहुँचाती हैं। भविष्य ज्ञान होने से वे संबद्ध लोगों को सतर्क भी करती हैं तथा कई प्रकार की कठिनाईयों को दूर करने एवं सफलताओं के लिए सहायता करने का भी प्रयत्न करती हैं। ऐसी दिव्य प्रेतात्माएँ अर्थात् पितर सदाशायी-सद्भाव संपन्न और सहानुभूति पूर्ण होती हैं। वे कुमार्गगामिता से असंतुष्ट होती तथा सन्मार्ग पर चलने वालों पर प्रसन्न रहती हैं। पितरों के भी अनेक स्तर हैं और उसी के अनुरूप वे सहायता करते हैं।

शास्त्र मत योग वाशिष्ठ में बताया गया है कि मृत्यु के उपरांत प्रेत योनि मरे हुए जीव अपने बंधु-बांधवों के पिंडदान योगवाशिष्ठ के अनुसार करने के समय प्रत्येक जीव मूर्च्छा का अनुभव करता है। वह मूर्च्छा महाप्रलय की रात्रि के समान होती है। उसके उपरांत प्रत्येक व्यक्ति ही अपने स्वप्न और संकल्प के अनुसार अपने परलोक की सृष्टि करता है,

यही बात इन श्लोकों में कही गई है।

मरणादिमयी मूर्च्छा प्रत्येके नानुभूयते।
यैका तां विद्धि समते महाप्रलययामिनीम्॥
तदन्ते तनुते सर्गं सर्व एव पृथक्-पृथक्।
सहज स्वप्नसंकल्पान्संभ्रमाचल नृत्यवत्॥

—योगवाशिष्ठ ३।४०।३१ व ३२

अर्थात्—प्रेत अपनी स्थिति को इस प्रकार अनुभव करते हैं कि हम मर गए हैं और अब बंधुओं के पिंडदान से हमारा नया शरीर बना है।

स्पष्ट है कि यह अनुभूति भावात्मक ही होती है। अतः पिंडदान का वास्तविक महत्व उससे जुड़ी भावनाओं के ही कारण होता है। जिसके प्रति आत्मीयता होती है, उसके भावात्मक अनुदान से प्रेत प्रभावित होता है। क्योंकि मरणोत्तर जीवन की अनुभूतियाँ वासना और संस्कारों के प्रभाव की ही प्रतिच्छाया होती हैं। इसलिए जिससे आत्मीयता का संस्कार अंकित हो, उसकी भावनाएँ परलोकस्थ जीव को प्रभावित करती हैं।

गीता के ८ वें अध्याय में कहा गया है, हे अर्जुन! जो अंत समय में जिन भावों का स्मरण करता हुआ देह छोड़ता है, उन्हीं भावों से अनुप्राणित होकर वैसा ही नया शरीर, नया व्यक्तित्व प्राप्त करता है।

संन्यासी से इसीलिए संन्यास लेते समय उसके श्राद्ध संस्कार भी उसी के द्वारा करा दिए जाते हैं, कि उसकी कोई भी आकांक्षा-आसक्ति सूक्ष्म रूप में भी शेष न रहे।

पूर्णतश्च समानौ स्तः पुत्रः पुत्री च निश्चितम्।
कर्त्तव्यान्यधिकाराश्च समत्वेन मता इह॥७९॥
श्राद्धतर्पणकर्तव्यविधौ तत्र द्वयोरपि।
उत्साहेन समानेन भवितव्यं सदैव च॥८०॥
पित्रोः पितामहस्याथ तत्र मातामहस्य च।
केवलानां न तच्छ्राद्धं भवत्यपि तु स्वर्गिणाम्॥८१॥
सर्वेषां स्वजनानां तद् भवितुं युज्यते ध्रुवम्।
संबन्धे केऽपि ते वास्युर्नात्रकश्चिद् व्यतिक्रमः॥८२॥
कनिष्ठाः कुर्वन्ते तत्र ज्येष्ठानां च यथैव तु।
श्राद्धं तथा कनिष्ठानां कर्तुं ज्येष्ठा अपि क्षमाः॥८३॥
क्षेत्रे त्वात्मन आहुर्न बुधास्त्वन्तर यत्र ते।
तत्र ज्येष्ठकनिष्ठत्वे शरीरस्थमिदं यतः॥८४॥
ऋषीणां देवतानां च गुरुणामुपकारिणाम्।
महामानवनान्मां च प्राप्तुमानुण्यमुत्तमम्॥८५॥
श्राद्धकर्मविधातव्यं कनिष्ठानामपि स्वयम्।
स्नेहसद्भाववात्सल्यं तत्र बोधयितुं महत्॥८६॥
यथा जन्मोत्सवस्तत्र विवाहोत्सव एव वा।
तथा वार्षिकश्राद्धं तत्कर्तुमत्रं च युज्यते॥८७॥

आत्मनोऽमरतायाश्च सिद्धांतोऽनेन पुष्यते।
परलोकस्य लोकस्य मध्ये च सघनस्तु सः॥८८॥
संबन्धः सततं तिष्ठन् परिवारविशालताम्।
कुरुतेऽक्षुण्णरूपां तां ब्रह्माण्डपरिशायिनीम्॥८९॥

टीका—कन्या और पुत्र समान हैं। दोनों के ही समान कर्त्तव्य और समान अधिकार हैं। इसलिए श्राद्धतर्पण करने में दोनों का ही समान उत्साह होना चाहिए। श्राद्ध मात्र अपने माता-पिता, बाबा-नाना आदि का ही नहीं होता, उन सभी स्वजनों का हो सकता है, जो दिवंगत हो गए, रिश्ते में वे कुछ भी क्यों न हों, इससे कुछ अंतर नहीं आता। छोटे-बड़ों का श्राद्ध जिस प्रकार करते हैं, उसी प्रकार बड़े छोटे का भी कर सकते हैं। आत्मा के क्षेत्र में छोटे-बड़े का अंतर नहीं रहता। वह तो शरीर के साथ जुड़ा हुआ है। गुरुजनों, महामानवों, ऋषि, देवताओं अथवा अन्य उपकारी जनों से ऋणमुक्त होने के लिए उनका श्राद्ध करना चाहिए। छोटे का उनके प्रति स्नेह, सद्भाव, वात्सल्य प्रकट करने के लिए जन्मोत्सवों, विवाहोत्सवों की तरह वार्षिक श्राद्ध भी हो सकता है। इससे आत्मा की अमरता को बल मिलता है और लोक-परलोक के बीच सघन संबंध बना रहने से परिवार की विशालता अक्षुण्ण बनी रहती है तथा समस्त ब्रह्मांड एक परिवार बन जाता है॥ ७९-८९॥

जहाँ तक पूर्वजों, पितरों, महामानवों के प्रति श्रद्धा श्राद्ध-तर्पण के रूप में अभिव्यक्त करने का प्रश्न है, पुत्र-पुत्री, नर-नारी में किसी प्रकार का भेद नहीं है। आत्मसत्ता द्वारा परलोक में बैठी सूक्ष्म आत्माओं को दी जा रही श्रद्धांजलि लिंग से बाधित नहीं है। आत्मा न नर है, न नारी, यह चिरंतन सत्य है। इसलिए यह मानना कि पुत्र होगा वही पिंडदान करेगा, नितान्त भ्रांतिपूर्ण मान्यता है। यही बात आयु की दृष्टि से छोटे-बड़े व्यक्तियों पर भी लागू होती है। छोटे बच्चों के असामयिक निधन पर भी उनकी आत्मा की शांति के लिए बड़ों द्वारा श्राद्ध किया जाना चाहिए।

श्राद्ध क्रिया मात्र पूर्वजों, आत्मीयजनों तक ही सीमित नहीं है। इस परिधि में सारा विश्व परिवार आ जाता है। जिन देवपुरुषों, महामानवों ने इस जगती के कल्याण हेतु विश्वसुधा के निमित्त अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया, उन सभी के प्रति श्रद्धांजलि व्यक्त करना मानव मात्र का धर्म है।

आत्मनोऽमरतां तत्र मरणोत्तरजीवने ।
विद्यमानं विधिं चापि स्वजनोत्तरदायिताम्॥९०॥
विस्तृतं तत्समाकर्ण्य सत्रे संस्कृतिवाहिनि।
संगता मुदिताः सर्वे भृशं जिज्ञासवस्ततः॥९१॥
प्रतिपादनमेतच्च श्रोतृभिः संगतैः समैः।
तत्र चाद्यतनं दिव्यं महत्त्वान्वितमामतम्॥९२॥

४.४६ प्रज्ञोपनिषद्

उपलब्धौ च सन्तोषं हर्षमुत्तममेव ते।

उद्गिरन्तोऽगमन् सर्वे श्रुत्वा घोषं समाप्तिकम् ॥ ९३ ॥

टीका—आत्मा की अमरता और मरणोत्तर जीवन की विधि-व्यवस्था तथा स्वजन-संबंधियों की जिम्मेदारी के संबंध में सुविस्तृत विवेचन सुनकर संस्कृति सत्र में सम्मिलित हुए

सभी जिज्ञासुजन बहुत प्रसन्न हुए। आज के प्रतिपादन को भी श्रवणकर्त्ताओं ने गत दिवसों जैसा ही महत्वपूर्ण माना और इस उपलब्धि पर हर्ष, संतोष प्रकट करते हुए समापन घोष होने पर शांतिपूर्वक विदा हो गए ॥ ९०-९३ ॥

॥ इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि देवसंस्कृतिखंडे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः, युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः,

श्री कात्यायन ऋषि प्रतिपादिते मरणोत्तरजीवने इति प्रकरणो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥